International Journal of Academic Research
ISSN: 2348-7666; Vol.4, Issue-6(1), June, 2017
Impact Factor: 6.023; Email: drtvramana@yahoo.co.in

दसवैकालिक जैनागम की दार्शनिकता

साध्वी समकित प्रज्ञाश्री

शोधार्थी, जैन विश्व भारती मान्य विश्वविद्यालय

लाडनूँ (राज.)

आत्मवाद

दसवैकालिक में मुनियों के आचार शास्त्र का वर्णन है।आचार का पालन तब तक सम्भव नहीं है,जब तक आत्म ज्ञान न हो। आगमों में आत्मा का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। आत्महित का अर्थ मोक्ष है। मुनि मोक्ष के लिए या उत्कृष्ट मंगलमय धर्म के लिए महाव्रत और व्रत को स्वीकार करता है। अन्य हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव होता है। आत्महित से बढ़कर कोई सुख नहीं है,इसलिए भगवान् ने इहलौकिक सुख–समृद्धि के लिए आचार को प्रतिपन्न करने की अनुज्ञा नहीं दी। पौद्गलिक सुख अनैकांतिक है। उनके पीछे दुख का प्रबल संयोग होता है। पौद्गलिक सुख के जगत् में ऐष्वर्य का तरतमभाव होता है–ईष्वर, ईष्वरतर और ईष्वरतम। इसी प्रकार हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्थाएं होती है। मोक्ष जगत् में ये दोष नहीं होते। इसलिए श्रमण के लिए आत्महित–मोक्ष ही उपास्य होता है और वह उसी की सिद्धि के लिए महाव्रतों का कठोर मार्ग अंगीकार करता है।

आत्मज्ञानी सब जीवों को आत्मवत् मानता है। इसलिए उसे पाप कर्म का बंधन नहीं होता। पहले ज्ञान फिर दया, यह आगमों का सार है। जो जीवों को नहीं जानता अजीवों को भी नहीं जानता वह संयम का पालन कैसे कर सकता है? जब मनुष्य जीवों की गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप ,बंध और मोक्ष को जान लेता है।

अध्यात्म शब्द आत्मनि इति :अध्यात्मम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मविषयक आचार का वाचक है। तात्पर्य यह है कि यहां वे आचार विवक्षित हैं जिनसे आत्मा का परिष्कार होता है। जैन दर्शन में तो आत्मा के ऊपर कर्म पुद्गलों का संश्लेष रहता ही है, इसलिये कर्मपुद्गलों के दूरीकरण के लिये जिन आचारों की अपेक्षा है वे ही अध्यात्म और आचार से परिगृहीत होते हैं। जैन दर्शन में आत्म शुद्धि के लिये विभिन्न व्रत, जप, तप, उपवासादि का विधान किया गया है। इनके द्वारा पौद्गलिक कर्मों का विलय हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध और परिष्कृत रूप में स्थित हो जाता है। आचारांग में कहा गया है कि आत्मकल्याण का इच्छुक व्यक्ति तपस्या के द्वारा कर्म शरीर को क्षीणकर आत्मा को निष्कषाय करे।[1]

जो कुछ विषमता है वह कषाययुक्त है। आचारांग में इसके क्रम को वर्णित करते हुये कहा गया है––जो क्रोध करता है, वह मान करता है। इसी प्रकार मान का माया से, माया का लोभ से, लोभ का राग से, राग का द्वेष तथा मोह से नियत सम्बन्ध है। इसके प्रभाव से ही प्राणी गर्भवास करता है। गर्भ से जन्म, जन्म से मृत्यु, मृत्यु से अपने कर्मों के अनुसार नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में जाता है। उसका अंतिम परिणाम है––दुःख। सुख–दुःख की लम्बी श्रृंखला को रोकने के लिये तथा कृतकर्मों का भेदन करने के लिये कषाय को रोकना आवश्यक

है। निष्कषाय व्यक्ति राग–द्वेष से मुक्त होता है। राग–द्वेष से मुक्ति का अर्थ है भवचक्र से मुक्ति। इस प्रकार आगमों में आत्मसम्बन्धी आचार का विस्तृत वर्णन है। आत्मन् शब्द विमर्श

आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है। महर्षि यास्क ने भ्वादिगणीय 'अत् सातत्य गमने'[2] एवं स्वादिगणीय' आप्लृ व्याप्तौ'[3] धातु से इसे निष्पन्न माना है। आत्मा 'अततेर्वा आप्तेर्वा'अर्थात् आत्मा सतत गतिमान् एवं सर्वव्यापक है। अदादिगणीय 'अन् प्राणने'[4] धातु से भी इसे निष्पन्न माना गया है––'अनति प्राणान् धारयतीति आत्मा' अर्थात् जो प्राणों को धारण करे वह आत्मा है। 'आप्नोति (व्याप्नोति) जागतिक निखिलपदार्थान् इति आत्मा' अर्थात् जो जगत् के निखिल पदार्थों में व्याप्त है वही आत्मा है। 'तत् सृष्ट्वा तत्रैवानुप्राविशत्' इस जगत् को बनाकर इसके अणु–अणु में वह व्याप्त हो गया। आचार्यशंकर ने कठोपनिषद् भाष्य में लिङ्गपुराण के श्लोक को उद्धृत किया है जिसमे चार प्रकार से आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति दिखायी गयी है। 'आत्मा सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, इस लोक में विषयों को भोगता है तथा उसका सर्वदा सद्भाव है, इसलिये यह आत्मा कहा जाता है।[5]

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।

जैनागमों में आत्मा से सम्बन्धित अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के टीकाकार ने लिखा है कि 'अतति–सततं गच्छति शुद्धिसंक्लेशात्मक परिणामान्तराणीत्यात्मा'[6] अर्थात् जो विविध भावों में परिणत होता है वह आत्मा है। समयसार के टीकाकार ने–– 'दर्शनज्ञानचारित्राणि अतति इति आत्मा'[7] अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सदा प्राप्त हो वह आत्मा है। उत्पाद्व्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा'[8] . अर्थात् उत्पाद् व्यय और ध्रौव्य इन तीनों द्वारा जो पूर्णरूप से विद्यमान रहता है, वह आत्मा है।

आत्मस्वरूप निर्धारण में सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का अपना स्वतन्त्र चिन्तन है। सांख्य आत्मा को नित्य, अमूर्त्त, चेतन, भोक्ता, निष्क्रिय, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म मानता है––

अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने।।[9]

सांख्यकारिका में पुरुष या आत्मा को चेतन तत्त्व तथा प्रकृति को अचेतन या जड़तत्त्व कहा गया है। पुरुष के स्वरूप को बतलाते हुये यहां कहा गया है कि पुरुष नित्य, साक्षी, केवल, निस्त्रैगुण्य, माध्यस्थ उदासीन, द्रष्टा और अकर्त्ता है। सांख्य के अनुसार पुरुष चेतन है। चेतन ही विषयों का ज्ञाता तथा द्रष्टा होता है। इसे अचेतन नहीं प्राप्त कर सकता।न्याय और वैशेषिक में आत्म सम्बन्धी विचारों में साम्य है। इनके अनुसार आत्मा ही वह द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख–दुःख, राग–द्वेष, इच्छा प्रयत्न आदि गुण रहते हैं। ये गुण शरीर के नहीं आत्मा के ही हो सकते हैं। आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है, नित्य और व्यापक है। मन से उसका प्रत्यक्ष होता है तथा मैं जानता हूं, मैं करता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि से आत्मा का अस्तित्त्व प्रकट होता है। न्यायवैशेषिक में आत्मा को प्रमेय मानकर उसकी सिद्धि की गयी है। तर्कसंग्रह के अनुसार समवाय सम्बन्ध से जिसमें ज्ञान रहता है उसे आत्मा कहा गया है। वह

आत्मा दो प्रकार की है, एक जीवात्मा दूसरी परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर सर्वज्ञ है, और एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न व्यापक और नित्य है। जैनागमों में भी आत्मा का स्वरूप इसी प्रकार वर्णित है। आचारांग आगम आत्मस्वरूप को प्रतिपादित करने वाला आगम है। इस आगम में औपपातिक और कर्मोपाधिनिरपेक्ष अर्थात् मुक्त दोनों प्रकार की आत्माओं का स्वरूप वर्णित है।[10]

औपपातिक या कर्मोपाधियुक्त आत्मा नानाविध शरीरों को धारण करती है, नानाविध योनियों में अनुसंचरण करती है, बार–बार जन्मती है और मरती है। इसे संसारी आत्मा कहा जाता है। कर्मोपाधि सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय के मत में यह आत्मा शरीर में अधिष्ठित होने के कारण तर्कगम्य बुद्धिग्राह्य, पौद्गलिक गुणों से युक्त, पुनर्जन्मधर्मा, स्त्री–पुरुष आदि लिंग से सहित तथा कथंचिद् मूर्त्त भी है।[11]

जीव के प्रकार

आगमों में जीव के दो भेद किये गये हैं – 1. संसारी 2. सिद्ध। आवश्यक चूर्णि में भी कहा गया है कि जीव के दो प्रकार हैं––रूपी और अरूपी। संसारी जीव रूपी हैं। सिद्ध जीव अरूपी हैं।[12]

संसारी जीव

आगमों में संसारी और मुक्त आत्माओं का वर्णन है। संसारी जीव दो प्रकार के हैं––त्रस और स्थावर।[13] जो जीव सुख प्राप्ति के लिये तथा दुःख से निवृत्ति के लिये यत्र–तत्र गमनागमन करते हैं वे त्रस हैं। जिन जीवों में दुःखनिवृत्ति पूर्वक सुख प्राप्ति के लिये गमनागमन की क्षमता नहीं होती वे 'स्थावर' कहे जाते हैं। भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञप्त छह जीव निकाय हैं[14]

(1) पृथ्वीकायिक (2) अप्कायिक
(3) तेजस्कायिक (4) वायुकायिक
(5) वनस्पतिकायिक (6) त्रसकायिक

स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता के कारण पृथ्वी कायिक आदि पांचों स्थावर कहलाते हैं।

1. **पृथ्वीकायिक जीव**––पृथ्वी ही जिन जीवों का शरीर है वे जीव पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीव पृथक–पृथक् शरीरों में आश्रित हैं। पृथ्वी कायिक जीव जन्मना इन्द्रिय विकल, अन्ध, वधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतनावाले होते हैं। शस्त्रों से छेदन–भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय विकल पुरुष को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों को भी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसी आत्मा पृथ्वीकायिक जीवों की है, वैसे ही मनुष्य की भी है। आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं है, भेद है केवल ज्ञानावरणादि कर्मों का।

2. **जलकायिक जीव**––जल ही जिन जीवों का शरीर है, वे जलकायिक जीव कहे जाते हैं। जल के आश्रित अनेक जीव होते हैं वे जलकायिक जीव नहीं हैं, किन्तु वे जल में उत्पन्न होने वाले त्रसकायिक जीव हैं। सब प्रकार के जल ओले, कुहरा, ओस ये सब जलकायिक जीवों के शरीर हैं। इन जीवों के शरीर सूक्ष्म होने के कारण दिखायी नहीं देते। जिस प्रकार इन्द्रिय सम्पन्न मनुष्य के पैरादि का शस्त्र से भेदन करने पर उसे अपार कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीवों को भी होती है। जल–कायिक जीवों में केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। अप्कायिक जीवों को निष्प्राण करने वाले अनेक शस्त्र बतलाये गये हैं। निर्युक्ति में उनका नामोल्लेखपूर्वक निरूपण है––उत्सेचन, गालन, उपकरण–क्षमत्र–भण्डका धावन, बादर अप्काय–यह संक्षेप में शस्त्रों का निरूपण है।[15]

उस्सिंचण–गालन–धोवणे य उवगरणमत्तभंडे य।
वायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं।।

3. **अग्निकायिक जीव**––अग्नि ही जिन जीवों का शरीर है, वे अग्निकायिक जीव हैं। जो अग्निकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। अग्नि में जीवत्व को सिद्ध करने के लिए निर्युक्तिकार ने कुछ हेतु प्रस्तुत किया है––जैसे खद्योत के शरीर की तैजस परिणत रात्रि में प्रकाशमय होकर प्रदीप्त होती है, उसी प्रकार अग्नि में भी जीव के प्रयोग विशेष से आविर्भूत प्रकाश शक्ति का अनुमान किया जाता है। जैसे ज्वर की उष्मा जीव में ही पायी जाती है, उसी प्रकार उष्मावान् होने के कारण अग्नि भी जीव है, ऐसा अनुमान किया जाता है। सभी प्रकार के अग्नि, अंगारे, ज्वाला आदि अग्निकायिक जीवों के शरीर हैं।

4. **वायुकायिक जीव**––वायु ही जिन जीवों का काय है उन्हें वायुकायिक जीव कहते हैं। वायुकायिक जीव अतिसूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते। संसार में जितने भी प्रकार की वायु है वह इसी काय के अन्तर्गत है। वायुकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय विकल मनुष्य की तरह अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। शस्त्र से छेदन–भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है वैसे ही वायुकायिक जीव को भी होती है।

5. **वनस्पतिकायिक जीव**––स्थावर कायिक जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना अत्यधिक स्पष्ट होती है। पृथ्वी आदि में वनस्पति की तरह चैतन्य स्पष्ट नहीं होता। वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना अधिक स्पष्ट होती है। मनुष्य शरीर के साथ वनस्पति जीवों की तुलना सर्वांगीण रूप से होती है––

   1. जैसे मनुष्य का शरीर जन्मधर्मा है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी जन्मधर्मा है।
   2. जैसे वनस्पतियां बढ़ती हैं वैसे ही मनुष्य का शरीर भी बढ़ता है।

3. जैसे मानव का शरीर छेदन–भेदन होने पर म्लान होता है वैसे ही वनस्पतियों के भी शाखा, फूल, पत्ते आदि अवयवछिन्न होने पर म्लान होते हैं।
4. मनुष्य की तरह वनस्पतियां भी आहार ग्रहण करती हैं।
5. जैसे मनुष्य का शरीर अनित्य है वैसे वनस्पतियां भी अनित्य हैं।
6. जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्मा है वैसे ही वनस्पति का शरीर भी विपरिणाम धर्मा है।[16]

स्थावरकायिक जीवों के अतिरिक्त त्रस कायिक जीवों का वर्णन आगमों में उपलब्ध है। त्रसकायिक जीव तीन प्रकार के होते हैं––

1. सम्मूर्च्छनज 2. गर्भज
3. औपपातिक

(1) रसज, संस्वेदज और उद्‌भिद् ये तीन सम्मूर्च्छनज हैं। सम्मूर्च्छनज का अर्थ है––गर्भाधान के बिना ही यत्र–तत्र आहार ग्रहण कर शरीर का निर्माण करना। इस विधि से उत्पन्न होने वाले प्राणी सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं।

(2) अण्डज, पोतज और जरायुज––ये गर्भज हैं।

(3) वैक्रिय शरीर से जन्म ग्रहण करने वाले औपपातिक कहलाते हैं। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। त्रसकायिक जीव ही संसरणशील और गतिमान् होते हैं इसलिये उनसे सम्बन्धित लोक को संसार कहा जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया है कि त्रस कायिक जीव चार प्रकार के हैं––(1) द्वीन्द्रिय (2) त्रीन्द्रिय (3) चतुरिन्द्रिय (4) पंचेन्द्रिय।[17]

इस प्रकार त्रस कायिक जीवों में दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों की गणना होती है। दो इन्द्रियवाले जीव के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। शंखादि जीव इसके अन्तर्गत आते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीव के अन्तर्गत चीटीं आदि जीव हैं। चार इन्द्रियवाले जीव के अन्तर्गत भौंरा आदि जीव आते हैं। नरकगति, मनुष्यगति और देवगति में ही पंचेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं।

संसारी जीव कर्म करते हैं और कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। जन्म और कर्म की अनादि परम्परा है।

कर्मोपाधि निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय के मत में जीव पारिणामिक भावयुक्त आत्मा मुक्त अथवा सिद्ध कही जाती है। शरीर मुक्त होने के कारण यह आत्मा अमूर्त्त होती है। शब्दों के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, तर्कों के द्वारा उसे जाना नहीं जा सकता, बुद्धि के द्वारा उसे ग्रहण नही किया जा सकता। आत्मा न दीर्घ है और न ह्रस्व, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है। वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत और न शुक्ल है। वह न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध है। वह न तिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है और न मधुर है। वह न कर्कश है, न मृदु है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है और न रुक्ष है। वह शरीरवान् भी नहीं है, वह जन्मधर्मा भी

नहीं है, वह लेपयुक्त भी नहीं है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक है। उसके लिये कोई उपमा नहीं है। वह अमूर्त्त अस्तित्त्व है। वह अपद है––उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है। वह न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है, और न स्पर्श है। वह सर्वतः चैतन्यमय है।[18].

आत्मा का कोई लिंग नहीं होता। लिंग का आश्रय है शरीर। जो आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थित है वह अशरीरी और अकर्मा होता है, इसलिये वह लिंगातीत होता है। वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

तुमंसि नाम सच्चेव जं 'हंतव्वं त्ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परिधेतव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि।

जिसे तूं हननयोग्य मानता है वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही [19]

आत्मा है मूल द्रव्य

आत्मा द्रव्य है। ज्ञान है उसका गुण। द्रव्य से गुण भिन्न है या अभिन्न इस सम्बन्ध में आचारांग में कहा गया है––जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है। जिस साधन से आत्मा जानती है, वह ज्ञान आत्मा है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञान आत्मशून्य नहीं है। चूर्णि में भी कहा गया है कि कोई भी आत्मा ज्ञान–विज्ञान से रहित नहीं है। जैसे अग्नि अनुष्ण नहीं होती। उष्णता अग्नि से भिन्न पदार्थ नहीं है, इसलिए अग्नि के कथन से उष्णता का कथन स्वयं हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के कथन से विज्ञान का कथन स्वयं हो जाता है और विज्ञान के कथन से आत्मा का कथन स्वयं हो जाता है। भगवती में भी आत्मा और चैतन्य का अभेद प्रतिपादित है––

गौतम ने पूछा––भंते! आत्मा जीव है या चैतन्य जीव है?

भगवान् बोले––'गौतम! आत्मा नियमतः जीव है और चैतन्य भी नियमतः जीव है। [20]

इसका प्रतिपाद्य है कि आत्मा भी जीव है और चैतन्य भी जीव है। जिस साधन से आत्मा जानती है, वह ज्ञान भी आत्मा है। इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त है। आत्मा का अस्तित्त्व ध्रुव है। ज्ञान के परिणाम उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। इस प्रकार आत्मा का अनेक रूपों में कथन होता है। परवर्ती जैन साहित्य में भी इसका विकास दिखायी देता है।

प्रवचनसार में भी कहा गया है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्व व्यापक है। आत्मा ज्ञान के बराबर है क्योंकि द्रव्य अपने–अपने गुण–पर्यायों के समान होता है। अतः जीव भी अपने ज्ञानगुण के बराबर है। आत्मा ज्ञान से न तो अधिक और न कम परिणमन करता है। ज्ञान ज्ञेय का प्रमाण है। जैसे ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है, उसी तरह सब पदार्थों को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है।[21]

जैन दर्शन के अनुसार चेतना जीव का मौलिक स्वरूप है। जीव निसर्गतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त चारित्र विशिष्ट है। कर्मों के आवरण के कारण जीव का शुद्ध रूप ओझल रहता है। जब कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है तो आत्मा अपने मूलस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आचारांग में कहा गया है कि इन्द्रिय विषय का परित्याग कर साधक अकर्मा होकर जानता, देखता है। इन्द्रिय विषय ही पुरुष की आकांक्षा से युक्त होकर राग–द्वेष के हेतु बनते हैं। जो साधक जन्म–मरण के चक्र को तोड़ देता है वह इस संसार सागर से मुक्त हो जाता है। जो संसार भ्रमण को जानता है वह राग और द्वेष दोनों अन्तों से दूर रहता है। वह समूचे लोक में न किसी के द्वारा छेदा जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है और न मारा जाता है। गीता में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि आत्मा को न तो काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गीला किया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है। आत्मा नित्य सर्वगत और सनातन है।[22]

आत्मा का परिमाण

आचारांग में आत्मा के परिमाण को इस प्रकार कहा गया है। आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है।[23]

संकोच और विकोच जीवों की स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्मयुक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बंधे हुये होते हैं। इसलिये उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति चतुष्टय सापेक्ष होता है। मुक्त दशा में संकोच विकोच नहीं, वहां आत्मा का जो अवगाह होता है वही रह जाता है। आत्मा के संकोच–विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे दीपक का प्रकाश अधिक क्षेत्र में विस्तृत रहता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखने से वही प्रकाश घड़े में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता रहता है। द्रव्यसंग्रह में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुये उसे सदेह परिमाण स्वीकार किया गया है––

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।[24].

जीव उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। आगमों के अनुसार आत्मा दीर्घ नहीं है, लोकव्यापी नहीं है। वह ह्रस्व नहीं है, अंगुष्ठ परिमाण भी नहीं है। वह शरीर परिमाण है। शरीर के अनुसार उसका परिमाण बदलता रहता है।

पंचास्तिकाय संग्रह में भी आत्मा को चेतयिता, उपयोगलक्षित प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त्त और कर्मसंयुक्त माना गया है।

आत्मा की अमरता

आगमों में आत्मा को अमर और शरीर को विनश्वर माना गया है। जैन दर्शन आत्मा को शाश्वत मानता है और साथ ही परिवर्तनशील भी माना है। आत्मा परिणाम धर्मा है। परिणमन अनित्यता का लक्षण है। जैन दर्शन की दृष्टि में आत्मा नित्य तथा अनित्य दोनों है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। आत्म प्रदेशों में परिवर्तन नहीं होता इस दृष्टि से आत्मा अमर है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में आत्मा के अनेक प्रकार की अवस्थाएं होती रहती है। इन कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है।

जैनागमों में पर्यायांश की दृष्टि से आत्मा अनित्य किन्तु द्रव्यांश की दृष्टि से आत्मा नित्य है। आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और संयोग तथा उपकार की दृष्टि से अभिन्न है। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है तथा शरीर का स्वरूप जड़ है। इसलिए दोनों भिन्न हैं। संसारावस्था में आत्मा और शरीर का दूध–पानी की तरह, लौह अग्निपिण्ड की तरह एकात्म संयोग होता है। इसलिए शरीर से किसी वस्तु का संस्पर्श होने पर आत्मा में सम्वेदन और कर्म का विपाक होता है। जीव की संसारावस्था व्यावहारिक दृष्टि से है। शुद्धनय की अपेक्षा से जीव ज्ञानस्वरूप है। जब तक जीव राग–द्वेष, क्रोध–मोह आदि विकारों से ग्रस्त रहता है, तब तक वह संसार में भटकता हुआ, कर्म विपाक को भोगता है। कर्म बन्धनों को तोड़ने के बाद वह लोकाग्र में जा पहुंचता है और शुद्ध चैतन्य में लीन हो जाता है। इसप्रकार आगमों के अनुसार––

(1) आत्मा का अस्तित्त्व है।

(2) आत्माएं अनन्त हैं।

(3) अनन्त आत्माओं का स्वतन्त्र और पृथक्–पृथक् अस्तित्त्व है।

(4) आत्माएं किसी एक ईश्वर के अंशभूत नहीं हैं। जैन दर्शन में आत्मा का अस्तित्त्व स्वतन्त्र है इसलिये उसका अपना कर्तृत्व भी स्वतन्त्र है।

(5) आत्मा और पुद्गल दोनों का सम्बन्ध अनादि है। आत्मा चेतन तथा पुद्गल अचेतन है।

(6) आत्मा अमूर्त्त है और पुद्गल मूर्त्त है।

(7) आत्मा के दो रूप है––संसारी या बद्ध आत्मा, दूसरा है मुक्त आत्मा।

(8) संसारी आत्मा शरीरवान् जन्मधर्मा और संगवान् है। वह नित्यपरिणामी है।

संदर्भ सूची

1 इह आणाकंखी पंडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं। आचारांगभाष्य 4/3/32

2 संस्कृत धातुकोश, पृष्ठ 6

3 तत्रैव, पृष्ठ 9

4 संस्कृत धातुकोश, पृष्ठ 6

5 कठोपनिषद् 2/1/1 शांकरभाष्य

6 उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य टीका,52

7 समयसार, श्लोक 8

8 द्रव्यसंग्रह, गाथा 57 पर ब्रह्मदेवकृत टीका

9 जैन दर्शन मनन और मीमांसा, आचार्यश्री महाप्रज्ञ, पृष्ठ 272

10 आचारांग भाष्य 5/6/123–140

11 आचारांग भाष्य–आचार्यश्री महाप्रज्ञ, पृष्ठ 291

12 जीवादुविहा–रूवी अरूवी य। रूवी संसारी, अरूवी सिद्धा। जीवरूपी सपदेसा य। कालादेसेणं नियमा सपदेसा।लद्धिआदेसेणं सपदेसा वा अपदेसा वा। अरूपी कालादेसेणावि लद्धिआदेसेणावि सप्पदेसा वा अप्पदेसा वा। आव0 चूर्णि 2 पृ 4

13 संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव..... ।।
उत्तराध्ययन 36/68

14 छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया। तं जहा–पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया।
दशवैकालिक, 4/3

15 आचारांगनिर्युक्ति गाथा 113

16 आचारांग भाष्य, शस्त्रपरिज्ञा 1/5/113 पर की गयी टिप्पणी से उद्धृत।

17 ओराला तसा जे उ चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदियतेइंदिय चउरोपंचिंदिया चेव।। उत्तराध्ययन सूत्र 36/126

18 आचारांग भाष्य 5/6/126

19 आचारांग भाष्य 5/5/101

20 भगवती 6/174

21'आदा णाणपमाणं णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं
णेय लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं। प्रवचनसार, 1/23

22 अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। गीता 2/24

23 से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले। आचारांग भाष्य 5/6/127

24 बृहद्द्रव्य संग्रह 1/2